# करबला की घटना इस्लामी जीवन की एक मार्ग शिला

**मौलाना सै0 शबीहुल हसन साहब किब्ला,नौनहरवी**

अगर बात बस इतनी होती कि एक हक़ पसन्द जमाअत, (सत्यवादी दल) ने अपने नस्ब–उल–ऐन और लक्ष्य को मनवाने के लिए बेसरो सामानी के आलम (साधना भाव की अवस्था) में एक जाबिर कूवत (दमन कारी शक्ति) का मुक़ाबला किया और इन्तिहाई मज़लूमियत (अति उत्पीणन) के साथ शहादत स्वीकार करके अपने उसूलों को नाश होने से बचा लिया तो न इतने हाहाकार की ज़रूरत होती न रोना धोना कोई तुक की बात होती । और न अब इतना समय बीत जाने पर यादगार बनाय रहने और उस पर इतना ज़ियादा मुसिर रहने (आग्रह करने) का कोई लाभ होता। क्योंकि ऐसी घटनायें इस दुनिया के लिए नई नहीं है। और न इन्सानी तारीख़ में ''अलमीयात'' और मानव इतिहास में त्रासदियों की कोई कमी है। इस कुरः–ए–अर्ज़ (भूमण्डल) के जिस चप्पे से चाहे ख़ाक़ उठाकर सूँघ लीजिये मज़लूमों (उत्पीड़ितों) के खून की सुगन्ध साफ महसूस होगी लेकिन बात बस इतनी ही नहीं। करबला की घटना को जब हम दूसरी घटनाओं के बीच एक अलग दर्जा देते हैं और इस सानिहे को इन्सानी तारीख (मानव इतिहास) की एक ऐसी हुजनिया और शोकान्त घटना बताते है जिसकी मिसाल इब्तिदा–ए–आफ़िरीनिश सृष्टि प्रारम्भ से अभी तक नहीं मिलती है। तो हम किसी क़िस्म की मुबालिग़ा आराई किसी प्रकार की अतिरंजना से काम नहीं लेते। यह एक हक़ीक़त हैं यथार्थ है कि अब तक मानव इतिहास में कोई ऐसा वाक़िआ जगह नहीं पा सका जिसमें अत्याचार करने और सहने को यह हद आ गई हो और न कोई ऐसी घटना मौजूद है जिसके हाथ और बाज़ू, ज़मान व मकान, काल और पात्र की ऐसी अज़ीम वुसअतों और विशाल क्षेत्रों पर हावी हों। तनक़ीदी निगाहें आलोचनात्मक दृष्टियां) तारीख़ी वाक़िओं में जिन इन्सानी कमज़ोरियों को पहचान चुकी हैं या पहचान लेती हैं वह करबला की घटनाओं में सिरे से नदारद है। अक्सर यह भी होता है कि एक वाक़िआ किसी खास विचारधारा के नाक़िद, आलोचक को आला अक़दार उच्चकोटि के मूल्यों का धनी दिखाता है। लेकिन जब किसी दूसरी विचारधारा का आलोचक (नाक़िद) इसे देखता है तो उसकी हैसियत काबिले अफसोस मुज़ाहिरे (दुखद प्रदर्शन) से ज़ियादा नहीं नज़र आती।

करबला का वाक़िया इस वर्ग और विचारधारा की खीचतान से बहुत ऊँचा हैं। यहां कोई ऐसा मन्ज़र (ऐसा दृश्य) सामने नहीं आता जो सही तर्क और ठीक ज्ञान रखने वालों के लिए भ्रम का कारण बने। न यहाँ शख़्सी जज़्बात (व्यक्तिगत भावनायें) हैं और न धन दौलत पर तक़रार है न राज हड़पने की या राजनैतिक और आर्थिक शोषण सियासी और मआशी इस्तिह साल की दौड़ धूप है। न बदले की आरज़ू है और न पारिवारिक झगड़ो का निपटारा। जब यह सब नहीं था तो फिर यह जंग किस लिए हुई और इस कुरबानी का मक़सद (बलिदान का उद्देश्य) क्या था ? जो लोग मखसूस हालात (विशेष परिस्थितियों) के पाबन्द हों के संकीर्ण विचारधाराओं के दायरों में रह के करबला के वाक़िअे का अध्ययन करते हैं उनके लिए इस कुरबानी का मक़सद समझना सचमुच बहुत दुश्वार है (दुष्कर है)। इस लिए कि बेचारे असीराने नक़्द जामिद और फ़रेफ़्तगाने शुहरते मुस्ताजिल इन आफ़ाक़ी अक़दार को समझने से क़ासिर हैं। अर्थात इस लिए कि वह बेचारे जो बंधी टिकी आलेचना के बंदी हैं। और जो बहुत जल्द मिल जाने वाली ख्याति पर मुग्ध हैं, इन सार्वलौकिक मूल्यों को समझने में असमर्थ हैं। जिन पर करबला के वाक़िआत की बुनियाद रखी गई है। खुद इस्लाम के अन्दर एक वर्ग मौजूद है जिसे करबला की घटनायें देखकर अचरज होता है और वह विस्मय से पूछते हैं कि यह भी कोई लड़ने की बात थी ! ऐसी बातों पर भी लड़ाई भिड़ाई मुमकिन है ऊपर से देखने में एक ''बैअत'' का ही तो मामला था इमाम हुसैन (अ0) का ''बैअत'' से इन्कार करना उन लोगों की समझ से और भी

बाहर था जिनके ज़ेहन (जिनके मानस) शुरू से "बैअत" और सत्ता के गलत मफ़हूम और अभिप्राय को स्वीकार कर दीनी क़यादत (धार्मिक अगुवाई) की शर्तों को मजरूह कर चुके थे (घायल कर चुके थे)। खुलासा यह कि अगर एक ऐसा वर्ग मौजूद है जो करबला के वाक़िअे की अज़मत और महिमा से जाने या अनजाने इन्कार कर रहा है तो हमें ऐसे वर्ग की कोई विशेष चिन्ता नहीं है। अगर इस घटना का एक मन्फी असर, नाकारात्मक प्रभाव (छमहंजपअम प्दसिनमदबम) होता तो शायद यह तबक़ा (यह वर्ग) अधिक आंतक का शिकार न होता मगर कठिनाई यह आन पड़ी कि इन वाक़िआत का इस्बाती पहलू इन घटनाओं का सकारात्मक पक्ष एक ऐसी रुकावट बनकर उजागर हुआ जिसका पार करना ऐसे लोगों के बस की बात नहीं।

करबला की घटना वह तारीखी संगे मील (वह ऐतिहासिक मार्ग शिला) है जहाँ से मुल्क व दीन की मिली जुली शाह राह, राज और धर्म का मिला जुला राजमार्ग दो अलग–अलग रास्तों में बट जाता है। दीनी और दुनियावी क़यादत की तफ़रीक़, धार्मिक और सांसारिक नेतृत्व का विभेद और मज़हब को हुकूमत से अलग करना, यह वह बहुमूल्य पूंजी है जो इस्लाम की ज़िन्दगी के लिए इमाम हुसैन (अ0) और उनके साथी छोड़ गये हैं। हुसैनी बलिदान के बाद मुसलमान शासकों का इस्लाम से वैवितक सम्बन्ध या शख़्सी तअल्लुक के अलावा कोई दूसरा नाता बाकी नहीं रह गया। और वह माहौल पैदा हो गया, (वह वातावरण रच गया) जिसने मुसलमानों और ग़ैर मुसलमानों दोनों को यह विश्वास दिला दिया कि न इस्लाम इन शासकों का ज़िम्मेदार है और न यह शासक इस्लाम के प्रतिनिधि या नुमाइंदे हैं। इस इजमाल की तफसील इस संक्षेपण या सारांश का विवरण यूँ समझना चाहिये कि इस्लाम बुनियादी तौर पर इमारत की मरकज़ीयत यानी सत्ता के केन्द्रीकरण का हामी पक्षघर है। और इसी लिए वह अमीरे शरीअत और अमीरे सल्तनत के मन्सब एक ही शख़्स को तफ़वीज़ करना चाहता है यानी इस्लाम राज प्रमुख और धर्म प्रमुख (Head of the State and Head of the Religion) के पद एक ही व्यक्ति को सौंपना चाहता है। इस वक्त हमें इस नज़रिए पर (दृष्टिकोण पर) पूरी बहस नहीं करना है। क्यों कि यह हमारे विषय से बाहर है। लेकिन इतनी बात अवश्य कह देना है कि इस्लाम ने जिन शर्तों के साथ और जिन हालतों में इस निज़ाम को (इस व्यवस्था को) एक उसूल (एक सिद्धान्त) के रूप में माना है वह इन शर्तों और हालतों से बिलकुल मुख्तलिफ़ (सर्वथा भिन्न) है जिनकी बिना पर आज दुनिया तकसीमे हुक्म के नज़रिये की हामी यानी शक्ति विभाजन के दृष्टि कोण की पक्षधर हैं। यह बात ठीक है कि अगर पूरी सत्ता या इक्तिदार एक ही आदमी को सौंप दी जाये और वह गमुराह हो जाये तो उसकी रोक थाम मुश्किल है। इसके बरखिलाफ या विपरित अगर सत्ता अनेक लोगों में बटी हुई हो तो हर एक का बेईमान हो जाना और अपने मन्सब से ग़लत फायदा उठाने की कोशिश करना बहुत बईद, (बड़ी दूर की बात) है। लेकिन साथ ही साथ यह बात भी सही है कि अगर पूरी सत्ता एक अच्छे केन्द्र पर इकठ्ठा हो जाये तो उसके इन्तेज़ाम और व्यवस्था में आसानी होती है। और आम आदमी के लिए न्याय से वंचित रहने की सम्भावना नहीं रहती। इसलिए अगर अच्छी तरह सोचा जाये तो पता चलेगा कि इस सवाल पर नजरियों का इख़्तिलाफ़ (दृष्टिकोणों का भेद) वास्तविक और मौलिक नहीं है बल्कि वाक़ई और अस्ल इख़्तिलाफ़ मस्अले क़यादत में है। बल्कि वास्तविक और मूल मतभेद नेतृत्व के सवाल पर है। इस्लाम ने क़यादत या नेतृत्व की शर्तों को इतना कड़ा बनाया है कि अगर इनका पूरा ध्यान रखा जाये तो ग़लत और अयोग्य लोगों के हाथ में नेतृत्व के आने का कोई सवाल ही नहीं पैदा होता। और इसी आधार पर इस्लाम उस व्यक्ति को सब अधिकार सौंप देने को तैयार है। इससे यह पता चला कि इस्लाम सत्ता के केन्द्रीकरण को तभी मानता है जब सही नेतृत्व का इन्तिजाम पहले हो जाये। लेकिन आज कल नेतृत्व की शर्तें इतनी मामूली हैं कि अयोग्य लोगों के क़ायद और अगुवा बनने की सम्भावना अधिक है। इस लिए वर्तमान युग शक्ति विभाजन के दृष्टिकोण को मानने पर मजबूर हैं। सारांश यह कि नेतृत्व बिलकुल सही हो और उसके विघटन या विकार का कारण बनने की कोई सम्भावना न हो तो वर्तमान युग की (मौजूदा दुनिया को) सत्ता के केन्द्रीकरण का विचार मानने में कोई उज्र या

संकोच न होगा। इसी तरह अगर संयोग वश नेतृत्व सक्षम हाथों में पहुँच जाये तो तो इस्लाम को सत्ता के विकेन्द्रीकरण का नज़रिया मान लेने में कोई संकोच न होगा बल्कि इसी उसूल को लागू करने पर इस्लाम आग्रह करेगा।

हज़रत पैग़म्बर (स0) के बाद सत्ता के केन्द्रीकरण के ही उसूल पर खिलाफ़त की नीव रखी गई। यह चीज़ इस्लामी व्यवस्था के मुआफ़िक थी। हमें उन लोगों से मतभेद ज़रूर है जो पैग़म्बर (स0) के बाद इस्लामी शासक बनते दिखाई पड़े। लेकिन यह बात मानी हुई है इमारत की मरक्ज़ीयत सत्ता का केन्द्रीकरण बना रहा और बहैसियत उसूल के यह एक बहुत अच्छी चीज़ है। लेकिन अगर मरक्ज़ीयत (केन्द्रीयकरण) ग़लत हाथों में पहुँच जाये तो इससे ज़ियादा मुहलिक और तबाहकुन (घातक और विध्वंसकारी) कोई दूसरी चीज़ नहीं है। परन्तु हालात की रफ़्तार अवस्था की गति को क्या किया जाये कि हुआ ऐसा ही। यह वक़्त इस्लाम के सच्चे रक्षकों के लिए बहुत कठिन है। माहौल नामुसाइद था यानी वातावरण सहायक न था। उनकी पहली कोशिश यही थी कि सत्ता का केन्द्रीकरण अब भी बना रहे और नेतृत्व भी सही हाथों में आ जाये। फ़रेब, खुरदा उम्मत और ठगे गये पंथ को विश्वास यह दिलाना था कि वह ठीक रास्ते से भटक चुकी है लेकिन अभी बिगाड़ की शुरूआत थी। अभी मुबतला–ए–फ़रेब उम्मत या ध ोखे में पड़े पंथ को स्वयं परख का पूरा अवसर भी न मिला था। इस्लाम के प्रहरी यह जानते थे कि अगर दीनी और मुल्की क़यादत धार्मिक और राष्ट्रीय नेतृत्व) गलत जगह इकठ्ठा हो जाये तो उसका ध ीरे–धीरे अन्यायकारी साम्राज्यवाद में बदल जाना ज़रूरी है। मगर जनता को इस चीज़ का विश्वास दिलाना बहुत मुश्किल था। अनकी हालत एक ऐसे व्यक्ति की थी कि जिसने विष तो खा लिया हो मगर अभी उसने असर दिखाना न शुरू किया हो। परन्तु कब तक ! आखिर ज़हर का असर शुरू हुआ। पंथ को ग़लती का एहसास हुआ। बुरे नतीजों ने चौंकाया और अवाम व खवास (जनसा –धारण और विशिष्ट वर्ग) सभी नेतृत्व बदलने पर मजबूर हुए।मगर यह इस्लाह–ए–नीयत, (नीयत का यह सुधार) बहुत देर से हुआ। ग़लत नेतृत्व अन्यायकारी साम्राज्यवाद को पहले जन्म दे चुका था और वह सब कारण विकसित हो चुके थे जिन्होंने दीनी व मुल्की क़यादत (धार्मिक एवं राष्ट्रीय नेतृत्व) को ''मुआवियाई साम्राज्यवाद'' तक पहुँचा दिया। हालात और बद से बदतर हुए। इस्लाम के रक्षकों की कठिनाईया और बढ़ी। इस लिए कि अभी तक उनका नस्बुल ऐन, लक्ष्य यही था कि नेतृत्व का केन्द्रीकरण भी बना रहे और नेतृत्व ठीक भी हो मगर व्यवहारिक रूप से व्यर्थ की सुविधा यह हुई कि अब उन्हें उम्मत को इस बात का विश्वास दिलाने की ज़रूरत नहीं रही कि वह ग़लत नेतृत्व का शिकार है। इस लिए कि ''मुआवियाई साम्राज्यवाद'' ने जो इस्लामी आवरण डाला था वह इतना तार–तार था कि किसी को भी उसका असली चेहरा–मोहरा देखने में कोई असुविधा नहीं हो सकती थी। अमली तौर पर यह आसानी (अलाभकारी) इस लिए थी कि तीसरे खलीफ़ा का कत्ल मुआविया के सामने था – मुआविया उसके कारण से परिचित थे और इस घटना को देख के वह अपने तजुर्बों में बहुत इज़ाफा (अपने अनुभव में बड़ी बुद्धि) कर चुके थे। उन्होंने बहुत जल्दी अपने हाथ और भुजा मज़बूत किये और जन साधारण को लालच, डर और प्रोपगेन्डा का शिकार बनाकर इस तरह काबू में किया कि अब किसी क्रान्ति की आशा व्यर्थ थी। इन सभी मुश्किलों ने इस्लाम के रक्षकों को इस बात पर विवश किया कि वह इमारत की मरकज़ीयत (नेतृत्व के केन्द्रीकरण) के सिद्धान्त से अब हाथ उठा लें और इस्लाम के जीवन के लिए राष्ट्रीय और धार्मिक नेतृत्व में भेद कर दें। उन्होंने यह अच्छी तरह महसूस कर लिया था कि सही नेतृत्व का अब सवाल ही नहीं उठता।

अतः उन्होने चाहा कि धर्म और शासन को अलग–अलग कर दिया जाये। उन्होने इस चीज़ को पहले सुलह से अन्जाम देना चाहा यानी सन्धि द्वारा कार्यान्वित करना चाहा। चुनाँचे इमाम हसन (अ0) की मुआविया से हुई सुलह और उसकी शर्तों को अगर देखा जाये तो साफ़ ज़ाहिर होगा कि सुलह सचमुच नेतृत्व के अलगाव की पहली कोशिश थी और इस्लाम को हुकूमत के पंजे से छुड़ाने की तरफ़ पहला क़दम था। यहां तक कि इमाम हुसैन (अ0) का दौर आया।

**(बाक़ी पेज नं0 8 पर,.......)**

देख लेते थे।

अली अकबर को देखते ही अली असग़र का ख़याल आता है। वह छः महीने का बच्चा जिसे हुसैन ने सब के अन्त में बलिदान के लिए अर्पण किया जो प्यास से व्याकुल था मगर उसकी प्यास पानी से नहीं बल्कि तीर से बुझाई गई। इन की लाश ढूंढने पर भी नहीं मिलती, हाँ ज़मीन पर एक छोटी सी कबर बनी हुई है। इस बच्चे को इमाम हुसैन ने उसके शहीद होने के बाद ही दफ़न कर दिया था, शायद इस लिये कि ऐसे बच्चे को मारडालने वालों का यह महापाप देखकर खुद हुसैन भी इस बच्चे को मिट्टी के नीचे छिपा देना चाहते थे। सब के अन्त में निगाह नीचे की ओर जाती है और यहीं ठहर जाती है। यहाँ पवित्रता की मूरत, शाम की लाली में चमकते हुए सूरज की तरह एक लाश पड़ी हुई है जो ज़ख़्मों से चूर है। सर पहले ही कट चुका है। इस लिए सूरत से तो पहचाना नहीं जा सकता मगर असंख्य ज़ख़म यह कहते हैं कि तमाम हथियारों का निशाना यही थी और दुशमनी इसी से थी। टूटी हुई कमर बताती है कि यह वह है जिसका बराबर का भाई मार डाला गया। बाँह तीर से छिदी हुई यह ख़बर देती है कि इस के हाथों पर छः महीने का बच्चा तीर का निशाना बना। ख़ून से रंगे हुए हाथ पता देते हैं कि इन्हीं हाथों से उस ने बच्चे का ख़ून अपने चेहरे पर मला था। सीने पर चौड़ा, गहरा घाव और पीठ के उस पार उस का निशान देखकर हम समझ सकते हैं कि यह वह है जिसके सीने पर तीर पड़ा तो सामने से निकल न सका। आख़िर पीठ की ओर से उसे खींचा और सीने से ख़ून परनाले की तरह जारी हुआ। शरीर का टुकड़े टुकड़े होना इस बात की पहचान है कि यही वह है जिस का शरीर शहीद होने के बाद घोड़ों की टापों से रौंदा गया। साफ़ मालूम होता है कि यह है पवित्रता की जान, सत्य का सिपाही, मानवता का रक्षक, इस्लाम के सूरमाओं का सेनानी और इस सदा याद रहने वाले उज्जवल दृश्य का केन्द्रीय व्यक्ति। जिस ने जान देदी मगर सत्य और धर्म पर जाँच न आने दी। जिस ने इस्लाम की इज़्ज़त पर अपनी हर चीज़ क़ुरबान कर दी। आज हर साल दुनिया में पूरब और पश्चिम में मुहर्रम में उन्हीं का शोक मनाया जाता है और उन ही की याद है जो विभिन्न प्रकार से हरी रखी जाती है और 13 शताब्दियाँ बीतने के बाद भी हर वर्ष के बाद दूसरे वर्ष इस में ज़्यादती होती रहती है।

(इमामिया मिशन प्रकाशन नं0 204)

**(पेज नं0 29 का बक़िया,.........)**

परिस्थियों की रफ़्तार और बिगड़ चुकी थी। मुआविया ने सुल्हनामें की शर्तों का उलंघन किया। 'यज़ीद' खलीफ़ा हुआ। उसने इस्लामी आवरण का वह आख़िरी तार नीचे के फेंक दिया जो मुआविया अपनी सरकार के चेहरे पर छोड़ गये थे। अन्यायकारी साम्राज्यवाद के क़दम और मज़बूत हुए।

अधर्मी साम्राज्यवाद इस्लाम का प्रतिनिधि बना। अब हालत अपनी पराकाष्ठा पर थी और प्रतीक्षा की कोई गुंजाइश बाक़ी नहीं रही। इमाम हुसैन (अ0) पर जब यज़ीद का धार्मिक नेतृत्व लादा गया तो आपने ''बैअत'' करने से इन्कार करके इस नेतृत्व को मानने से साफ़ इन्कार कर दिया। और फिर आपने आखिरी क़दम उठाया। जिसने लक्ष्य की पूर्ति कर दी। जिसके लिए बरसों से यह कोशिश जारी थी। धर्म, राजसत्ता से अलग हो गया। दीन और सम्राज्य का नाता टूट गया। नेतृत्व बट गया। और एक ऐसे वातावरण का सृजन और एक ऐसी फ़िज़ा की खिलक़त हुई जिसमें इस्लाम को ज़िन्दा रहने और प्रगति करने का मौका था। यह सिद्ध हो गया कि इस्लाम उन धर्मों में नहीं है जिन को हुकूमत के सहारे की आवश्यकता हो। अगर उस वक़्त इस्लाम और राजसत्ता का नाता न तोड़ दिया जाता तो आइन्दा यज़ीद और इस्लाम एक दूसरे के पर्याय बन जाते।इमाम हुसैन (अ0) की शहादत से पहले के वातावरण पर नज़र किजिए और इन दोनों का मुक़ाबला कीजिए। तो परिस्थिति और स्पष्ट हो जायेगी। हुसैन (अ0) की शहादत से पहले जितने फरमां रवा गुज़रे हैं उन्हें धार्मिक और राष्ट्रीय नेता समझा गया। यज़ीद के बाद जितने भी खलीफ़ा हुए वह सब केवल बादशाह थे धार्मिक नेता न थे। इसके सुबूत में बस इतना कह देना पर्याप्त है कि इमाम की शहादत के बाद प्रत्येक दरबार में आपको सरकारी ''फ़क़ीह'' और ''मुफ़्ती'' नज़र आयेगें। जिनका काम धार्मिक बातों का निपटारा और धर्म विधि सम्बन्धी मामलों में व्यवस्था देना था।